चारित्रका महत्त्व

जैन दर्शनमें चारित्रका महत्त्व बहुत अधिक है। आत्मगवेषी मुमुक्षुको इस अनाद्यनन्त दुःखमय संसारसे छूटनेके लिये चारित्रकी उपासना बहुत आवश्यक है। जब तक चारित्रकी उपासना नहीं की जाती तब तक यह जीव संसारके अनेक दुःखोंका शिकार बना रहता है और संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। यह निश्चित है कि प्रत्येक प्राणधारी इस परिभ्रमणसे बचना चाहता है और सुखकी खोजमें फिरता है। परन्तु इस परिभ्रमणसे बचनेका जो वास्तविक उपाय है उसे नहीं करता है। इसीलिये सुखी बननेके स्थानमें दुःखी बना रहता है।

यों तो संसारके सभी महापुरुषोंने जीवोंको उक्त परिभ्रमणसे छुटाने और उन्हें सुखी बनानेका प्रयत्न किया है। पर जैन धर्मके प्रवर्त्तक महापुरुषोंने इस दिशामें अपना अनूठा प्रयत्न किया है। यही कारण है कि वे इस प्रयत्नमें सफल हुये हैं। उन्होंने संसार-व्याधिसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुँचानेके लक्ष्यसे ही जैन धर्मके तत्त्वोंका अपनी दिव्य वाणी द्वारा सम्पूर्ण जीवोंको उपदेश दिया है। उनका यह उपदेश धारा-प्रवाह रूपसे आज भी चला आ रहा है। इसके द्वारा अनन्त भव्य जीवोंने कैवल्य और निःश्रेयस प्राप्त करके आत्मकल्याण किया है।

प्रायः सभी आस्तिक दर्शनकारोंने सम्पूर्ण कर्मबन्धनसे रहित आत्माकी अवस्था-विशेषको मोक्ष माना है। हम सब कोई कर्मबन्धनसे छूटना चाहते हैं और आत्माकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं। अतः हमें चाहिये कि उसकी प्राप्तिका ठीक उपाय करें। जैन दर्शनने इसका ठीक एवं चरम उपाय चारित्र-को बताया है। यह चारित्र दो भागोंमें विभक्त किया गया है :– १–व्यवहार चारित्र और २–निश्चय चारित्र। अशुभ क्रियाओंसे हटकर शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्त होना सो व्यवहार चारित्र है। दूसरेका बुरा विचारना, उसका अनिष्ट करना, अन्याय-पूर्वक द्रव्य कमाना, पाँच पापोंका सेवन करना आदि अशुभ क्रियायें हैं। दूसरों पर दया करना, उनका परोपकार करना, उनका अच्छा विचारना, पाँच पापोंका त्याग, छह आवश्यकोंका पालन आदि शुभ क्रियायें हैं। संसारी प्राणी अनादि कालसे मोहके अधीन होकर अशुभ क्रियाओंमें रत है। उसे उनसे हटाकर शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्त कराना सरल है। किन्तु शुद्धोपयोग या निश्चयमार्ग पर चलाना कठिन है। जिन अशुभ क्रियाओंके सस्कार खूब जमे हैं उन्हें जल्दी दूर नहीं किया जा सकता है। रोगीको कड़वी दवा, जो कड़वी दवा नहीं पीना चाहता है, मिश्री मिलाकर पिलाई जाती है। जब रोगी मिश्रीके लोभसे कड़वी दवा पीने लगता है तब उसे केवल कड़वी दवा ही पिलाई जाती है। संसारी प्राणी जब अनादि कालसे कषायों और विषयोंमें लिप्त रहनेसे उसकी वासनाओंसे ओतप्रोत है तो निश्चय मार्गमें नहीं चल सकता। चलानेकी कोशिश करने पर भी उसकी उस ओर अभिरुचि नहीं होती। अतः उसे पहिले व्यवहारमार्ग या व्यवहार चारित्रका उपदेश दिया जाता है। आचार्य नेमिचन्द्र व्यवहार चारित्रका लक्षण करते हुये कहते हैं :—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशुभ क्रियाओंसे निवृत्त होना और शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना व्यवहारचारित्र है। यह व्यवहारचारित्र तेरह प्रकारका है–५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति। रत्नत्रयपूजामें इसी त्रयोदशाँग सम्यकचारित्रकी पूजा निहित है। पं० आशाधारजीने भी "अशुभ-कर्मणः निवृत्तिः शुभकर्मणि प्रवृत्तिः" को व्यवहारचारित्र या व्रत बतलाया है। इस व्यवहारचारित्रका अवलम्बन लेकर ही उत्तरोत्तर आत्म-विकास करता हुआ आत्मसाधक बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग क्रियाओंका निरोधकर अपने आपमें स्थिर हो जाने रूप परमोदासीनतात्मक परमोत्कृष्ट (निश्चय) चारित्रको प्राप्त करता है। आचार्य स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है कि, "रागद्वेष-निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः" रागादिकी निवृत्तिके लिये साधु हिंसादिनिवृत्ति-लक्षण व्यवहारचारित्रका आचरण करता है। अतः स्पष्ट है कि निश्चयचारित्रको प्राप्त करनेके लिये व्यवहारचारित्र पालन करना आवश्यक एवं अनिवार्य है। यह व्यवहारचारित्र सब प्रकारसे मीठा है और तत्काल आनन्द देने वाला है।

विषयानुरागी जीवोंने इन्द्रिय-विषयमें ही आनन्द मान रखा है। एक कविने कहा है कि—
"अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषयमेव रमणीयं। तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि ॥"

अर्थात् जिसने कभी घीको नहीं खाया वह पुरुष तेलको ही मीठा बतलाता है। इसी प्रकार संसारी प्राणीने मोक्षानन्दका कभी अनुभव नहीं किया है इसलिये वह विषयजन्य सुखको ही सुख, आनन्द समझता है। वास्तवमें हमें इन्द्रियाँ इसलिये प्राप्त हुई हैं कि हम अनिष्टसे बचे रहें। स्पर्शन इन्द्रिय कोमल शरीर वाले जीवोंकी रक्षाके लिये है। एकेन्द्रियादि जीवोंका स्पर्श होते ही तुरन्त उनकी रक्षाके भाव हो जाने चाहिये। रसना इन्द्रिय भी अनिष्ट, अनुपसेव्य, अभक्ष्य खाद्योंसे बचनेके लिये है। श्रोत्र इन्द्रिय शास्त्रश्रवण, जिनगुणश्रवण करनेके लिये है। चक्षुरिन्द्रिय देवदर्शन आदिके लिये है। घ्राणेन्द्रिय भी जीवरक्षाके लिये है। मन, आत्मचिन्तन, जिनगुणचिन्तन, दूसरोंका भला विचारना आदिके लिये है। किन्तु हम लोगोंने इन्द्रियोंका दुरुपयोग कर रखा है। कहा है :—

भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

अर्थात् भोगोंको हमने नहीं भोगा, किन्तु भोगोंने ही हमें भोग लिया, मनुष्यपर्यायको पाकर हम तपश्चरण करनेके लिये आये थे, किन्तु विषयोंमें फँसकर तपको नहीं कर सके और विषयोंने ही हमें संतप्त कर दिया। काल नहीं बीता, सारी ही सारी उम्र बीत गयी। काल पूरा नहीं हो पाता, पर हम पूरे हो जाते हैं अर्थात् हम व्यर्थके झगड़े-टंटोंमें अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं। हमें जो समय प्राप्त था, उसका उपयोग नहीं करते हैं। चौथे पादमें कवि कहता है कि हम बुड्ढे हो गये, पर हमारी तृष्णा बुड्ढी नहीं हुई। गरज़ यह है कि हम विषयोंमें लिप्त होकर अपने आपको बिलकुल भूल जाते हैं, आत्म-कल्याणकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते हैं। अतः आत्मकल्याणार्थियोंको उचित है कि वे व्यवहारचारित्रका ठीक-ठीक आचरणकर अनन्तानन्त गुणोंके भण्डार चिदानन्द स्वरूप शुद्धात्माकी प्राप्ति करें। इससे स्पष्ट है कि जैन दृष्टिमें चारित्रका कितना महत्त्व है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org